मुमुक्षुजीव के आदर्श समान धन्यावतार प्रशममूर्ति 'पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन' के १०९ वें मंगलकारी जन्मोत्सव के अवसर पर अत्यंत विनम्रभाव से, दासत्वभाव से कोटि कोटि वंदन!

गुरुदेवश्री की प्रवचन सभा में पूज्य बहिनश्री बिराजमान थे तो यह भाव और सूक्ष्म से सूक्ष्म न्याय निकले हैं, अध्यात्म के ऊँचे भाव निकले हैं, वह कोई नहीं समजता उनके सामने देखकर नहीं निकले हैं। जो समजते हैं, जो ग्रहण कर सकते हैं, जो पकड़ सकते हैं उनके कारण से निकलते हैं। तीर्थंकर की सभा में गणधर की हाजीरी से यह बात निकलती है। वह प्रकार था तो उसका लाभ सबको मिला। यह उनका उपकार है। गणधर का उपकार इसीलिए गाया जाता है कि, आप थे तो हमें लाभ मिला, वरना वाणी ही न छूटती।

(पूज्य गुरुदेवश्री की) अभी जो वाणी उपलब्ध है उसका भी यही कारण है। उनका उपकार है। (वे) ग्रहण करनेवाले थे तो अन्दर से भाव निकलते थे।

– पूज्य भाईश्री शशीभाई

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४८ः अंक-२९६, वर्ष-२४, अगस्त-२०२२

आषाढ़ कृष्ण १४, रविवार, दि. १७-७-१९६६, योगसार पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-९२, प्रवचन-३७

९२ '**आत्मरसी जीव कर्मों से नहीं बँधता...**' यह तो योगसार है न? योगसार का ही स्पष्टीकरण बहुत किया है।

जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणि पत्त कया वि।
तह कम्मेहिं ण लिप्पियउ जइ रइ अप्प सहावि।। ९२।।

शर्त यह। जिसे आत्मा में रति लगी है, आत्मा की लगन लगी है.... रति है न? भाई! निर्जरा अधिकार में २०६ गाथा में है न? उसमें प्रीति कर, उसमें रति कर, उसमें सन्तोष कर, उसमें स्थिर होओ। पालीताना में यह गाथा चली थी, अहमदाबाद में भी वह चली थी। वह भड़के... भड़के... भड़के... यह तो आत्मा... आत्मा करते हैं परन्तु सुन, भगवान! तुझे आत्मा के अतिरिक्त क्या करना है? यह क्रिया करो, भगवान की यात्रा, पूजा, सिद्धगिरि, सिद्धगिरि के दर्शन करो.... अब यह तो शुभभाव है, बापू! तू लाख सिद्धगिरि के ऊपर जा न! यह सिद्धगिरि पूरी अन्दर पड़ी है, अनन्त सिद्धों की पर्याय जो एक समय में सिद्ध को प्रगट हो... ऐसी अनन्त पर्यायें रखकर भगवान अन्दर पड़ा है, उस सिद्धगिरि पर चढ़... बल्लभदासभाई! तो तेरी यात्रा सफल होगी। यह शत्रुंजय है। शत्रु का जय करनेवाला भगवान आत्मा, वह शत्रुंजय है। यह भक्ति का भाव अशुभ से बचने के लिए होता है - ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वरना उस काल में आने योग्य भाव होता है, इसलिए शुभभाव आता है; हो परन्तु तू उसे ऐसा मान ले कि इससे धीरे-धीरे कल्याण हो जायेगा (तो ऐसा नहीं है)। स्वद्रव्य के आश्रय के बिना कल्याण का अंश कभी भी नहीं जगता है।

देखो, दृष्टान्त दिया, हाँ! '**जैसे कमल का पत्र कभी भी पानी से लिप्त नहीं होता...**' यह अपने आ गया है। (समयसार) चौदहवीं गाथा। '**उसी प्रकार यदि जीव अपने स्वभाव में रत होता है...**' देखो, ऐसा भगवान आत्मा ज्ञान का सूर्य, ज्ञान का सूर्य, उसमें रत होता है, वह उसका स्वभाव कहलाता है। ज्ञानस्वरूपी भगवान में लीन होवे तो जीव '**कर्मों से लिप्त नहीं होता।**' लिप्त कहाँ से होगा? जहाँ अन्दर वस्तु में लीन हुआ तो कर्म से बन्ध कहाँ से होगा? समझ में आया? निर्जरा होती है।

'**आत्मा में लीन भव्यजीव मोक्षमार्गी है, वह रत्नत्रय की एकता धारण करता है।**' अपना आत्मा, उसकी रुचि, उसका स्वसंवेदन ज्ञान

और उसका स्वरूपाचरण... इस प्रकार तीनों की एकता रखता है। वीतराग समभाव से लीन होता है। वीतरागभाव में अथवा समभाव में लीन होता है। राग-द्वेष विहीन होता है; इसलिए कर्मों से नहीं बँधता है। बन्धनाशक वीतरागभाव है। बन्ध का नाश करनेवाला तो आत्मा वीतरागस्वरूप और उसमें से उत्पन्न हुआ वीतरागभाव है। सम्यग्दर्शन भी वीतरागभाव है, भाई! अन्य लोग कहते हैं सरागसम्यक्त्व है। सरागसम्यक्त्व तो उसे राग से कहा है। सम्यक्त्व सराग - फराग है ही नहीं। वीतराग सम्यग्दर्शन। तब वे कहते हैं, वीतराग सम्यग्दर्शन आठवें में होता है, चौथे में सराग सम्यग्दर्शन होता है।

मुमुक्षु - अमुक ऐसा कहते हैं, छठवें में होता है।

उत्तर - परन्तु वह तो छठवें में कहते हैं। सातवें में वीतराग है, गौणरूप से चौथे का लिया है, वहाँ टीका में लिया है।

कहते हैं, बन्धनाशक वीतरागभाव; बन्धकारक राग-द्वेष-मोह। दोनों बन्ध आते हैं न? मोह मिथ्यात्वभाव को कहते हैं, वह तो ठीक। इकतालीस प्रकृतियों का बन्ध नहीं करता, लो! सम्यग्दृष्टि अपने शुद्धस्वरूप की दृष्टि में आंशिक स्थिर हुआ, उसे इकतालीस प्रकृति का बन्ध तो सहज नहीं है। युद्ध में खड़ा हो तो भी इकतालीस प्रकृति का बन्ध नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? और अज्ञानी ऐसी दया पालने की पिच्छी लेकर, मोर पिच्छी लेकर (चलता हो) दृष्टि कर्ताबुद्धि की है, यह क्रिया मैं करता हूँ, राग आया वह मेरा धर्म है - ऐसी मिथ्याबुद्धि में मिथ्यात्व का चिकना अनन्त संसार पड़ता है। समझ में आया? फिर बहुत बात की है।

अन्तिम श्लोक समयसार कलश का (लिया है) '**ज्ञानी को राग-द्वेष-मोह नहीं होते हैं...**' इस धर्मी को राग-द्वेष होते ही नहीं... होते ही नहीं... धर्म की दृष्टि में नहीं, दृष्टि के विषय (ऐसे) आत्मा में राग नहीं तो धर्मी को राग-द्वेष-मोह होते ही नहीं। '**इसलिए ज्ञानी को बन्ध नहीं होता।**' यह आस्रव अधिकार का (श्लोक) है। '**रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस**' (गाथा १७७) यह आस्रव की गाथा है न? उसके पहले का उपोद्घात का कलश है। समझ में आया? भगवान आत्मा का ज्ञान हुआ कि शुद्ध आत्मा है, बन्धरहित स्वरूप है, अबन्धस्वरूपी भगवान है। दृष्टि अबन्धस्वरूप की हुई (तो उसके) दृष्टिवन्त को राग-द्वेष-मोह नहीं होते हैं, उसे बन्ध नहीं है।

'**आत्मरमणता से वीतरागभाव बढ़ता है...**' और स्वभाव में रमणता के कारण वीतरागभाव बढ़ जाता है, थोड़ा राग बाकी है, वह भी घट जाता है। कहो, समझ में आया? '**बन्ध रुकता है।**' भगवान आत्मा स्वरूप की दृष्टि हुई, अबन्धस्वरूपी आत्मा, अबन्धस्वभाव... कहो या मुक्त कहो - ऐसी दृष्टि हुई तो अबन्ध परिणाम हुए, अबन्ध परिणाम में बन्ध नहीं होता; बन्ध का नाश होता है।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव)

***

श्रावण शुक्ल १, मंगलवार, दि. १९-७-१९६६, योगसार पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-९३, प्रवचन-३८

यह योगसार नामक शास्त्र है, उसकी यह ९३ वीं गाथा है। ९३ '**समसुख भोगी निर्वाण का पात्र है।**' निर्वाण का पात्र कौन है? (वह कहते हैं)

जो समसुक्ख णिलीणु बुहु पुण पुण अप्पु मुणेइ।
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाणु लहेइ।।९३।।

मूल गाथा है, उसका अर्थ ज़रा सूक्ष्म है। क्या कहते हैं? जो कोई '**बुहु**', अर्थात् ज्ञानी। ज्ञानी-धर्मी उसे कहते हैं कि यह आत्मा आनन्दस्वरूप है, ज्ञानानन्द चैतन्यस्वरूप शुद्ध है, उसका जिसे शरीर, कर्मरहित और पुण्य-पाप के भाव-विकार से रहित, अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप का भान और अनुभव होता है, उसे धर्मी और ज्ञानी कहते हैं। समझ में आया? उसे धर्म की शुरुआत करनेवाला कहते हैं।

पहला शब्द '**बुहु**' प्रयोग किया है। बुध - यह आत्मा, यह देह, वाणी, मन तो मिट्टी जड़ है, धूल है; यह आत्मा नहीं। अन्दर आठ कर्म के रजकण सूक्ष्म धूल है, वह भी आत्मा नहीं, वह मिट्टी है; आत्मा में हिंसा, झूठ, चोरी कमाने आदि के भाव (होते हैं वे) पाप हैं और दया, दान, भक्ति, व्रत आदि परिणाम होते हैं, वह पुण्य है। इन पुण्य और पाप के भाव से रहित अपना स्वरूप शुद्ध ज्ञानानन्द अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द यह आत्मा है। उसकी अन्तर में रागरहित रुचि करके स्वभाव की अन्तर्दृष्टि होना और आत्मा ज्ञानानन्द है - ऐसा अनुभव होना, उसे धर्मी और ज्ञानी कहते हैं। सूक्ष्म बात है। कितने ही लोगों ने तो कभी सुनी भी नहीं होगी। यह भगवान आत्मा - ऐसा कहते हैं, कैसा? है? यह आत्मा ऐसा है। यह तो सब आये हैं न? सुने किस प्रकार? समझें तब न कठिन... कठिन...?

'**सम सुक्ख**' ऐसा शब्द पड़ा है। धर्मी '**सम सुख में लीन होकर...**' भगवान आत्मा अन्तर अतीन्द्रिय जैसा सिद्ध का आनन्द है, जैसा सिद्ध परमात्मा में आनन्द है, वैसा इस आत्मा में अन्तरस्वरूप में आनन्द है। यह पुण्य-पाप के, राग-द्वेष के भाव, आकुलता और दु:ख है। उनसे रहित आत्मा में आनन्द होना, उसे सुख कहते हैं। समझ में आया? कहो, रतिभाई! इस पैसे में सुख है, शरीर में सुख है, कमाने में सुख है - ऐसी जो कल्पना / मान्यता, वह मिथ्यात्व है और उसमें सुख है, इस विपरीत मान्यतासहित का राग-द्वेषभाव है, वह दु:ख है।

मुमुक्षु : ...

उत्तर : धूल में भी नहीं। कौन सुखी है? सब समझने जैसे हैं, सब दु:खी हैं, भगवान आत्मा में.... सर्वज्ञ परमेश्वर केवलज्ञानी (ऐसा कहते हैं कि) भाई! तेरा आत्मा अनादि से आत्मा के आनन्दस्वरूप की दृष्टि के बिना अकेले शुभ और अशुभ के विकार के भाव को करके 'मुझे सुख है' - ऐसा मूढ़ मिथ्यादृष्टि अनादि से मानता है और यदि धर्म करना हो तो धर्म उसे कहते हैं कि यह शरीर, वाणी, मन तो जड़ है, ये तो मुझमें नहीं हैं परन्तु शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप यह विकार, कृत्रिम उपाधि, मैल, वह मेरी चीज में नहीं है। मेरी चीज में तो अतीन्द्रिय आनन्द (भरा है)। अतीन्द्रिय अमृतस्वरूप, सुखस्वरूप.... आत्मा अतीन्द्रिय सुख का सागर है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : कितना (बड़ा) सागर है?

उत्तर : यह सागर तो साधारण है, वह तो अनन्त सागर है। जिसमें अनन्त... अनन्त... शान्ति

पड़ी है। जो सिद्ध भगवान को अनन्त आनन्द प्रगट होता है, वह कहाँ से आता है? बाहर से आता है? अन्तर में उसे पता नहीं कि आत्मा क्या चीज है? और आत्मा में क्या है तथा आत्मा क्या चीज है और उसमें क्या है? पता नहीं। मूढ़ अनन्त काल में त्यागी हुआ, भोगी हुआ, रोगी हुआ, निरोगी हुआ, राजा हुआ और रंक हुआ... अनन्त... अनन्त बार! परन्तु यह आत्मा क्या है और उसमें क्या है? आत्मा क्या है और उसमें क्या है? आत्मा चैतन्यस्वरूप है और उसमें अतीन्द्रिय शान्ति तथा आनन्द है - ऐसी अन्तर में सम्यग्दृष्टि होना, अनन्त काल से यह भाव उसने प्रगट नहीं किया। यह अन्तर में अतीन्द्रिय शान्त वस्तु (मैं हूँ)।

अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति मेरा स्वरूप है, त्रिकाल परमेश्वर ने ऐसा कहा है। परमेश्वर ने ऐसा देखा है, परमेश्वर वीतरागदेव ने ऐसा फरमान किया है कि भाई! हमें जो समसुख - वीतरागी अनन्त आनन्द जो हमें प्रगट हुआ है, वह अतीन्द्रिय सम वीतरागी आनन्द तेरी वस्तु में पड़ा है। पाटनी! वह भी कहाँ ढूँढ़ना? यहाँ तो चारों ओर धूल में और पैसे में और शरीर में अथवा तो अन्दर के पापभाव हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना में सुख है, मूढ़ को ऐसी मान्यता अनादि का भ्रम है - ऐसा करके आगे चले तो अधिक तो राग की मन्दता-दया, दान, भक्ति, व्रत, तप के शुभभाव में आता है। वह भी राग की मन्दता के शुभभाव में अनादि से सुख है - ऐसा मूढ़ मान रहा है। समझ में आया? रतिभाई! क्या होगा? है?

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर 'केवली पण्णत्तो धम्मो शरणं'... उन केवली परमात्मा ने आत्मा में अतीन्द्रिय.. आत्मा धर्मी और उसमें अतीन्द्रिय आनन्द, उसका धर्म अर्थात् स्वभाव है। उसकी, इसने अनन्त काल में पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर और आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द है - ऐसी इसने दृष्टि और रुचि एक सेकंण्ड भी अनन्त काल में नहीं की है। समझ में आया?

इसलिए कहते हैं जो ज्ञानी.... पहला शब्द यह लिया। '**बुहु**' शब्द पड़ा है न? '**बुहु, बुहु**' अर्थात् ज्ञानी। जिसने भगवान आत्मा में गृहस्थाश्रम में हो, छह खण्ड के राज्य में पड़ा दिखे, भरत चक्रवर्ती आदि... परन्तु यह अन्तर में मेरे स्वरूप में अतीन्द्रिय आनन्द है - ऐसा सम्यग्दृष्टि को अन्तर में स्वाद आ जाता है। समझ में आया? यह अतीन्द्रिय आनन्द मुझमें है - ऐसा अन्तर सम्यग्दर्शन होने पर, समकित होने पर, धर्म की पहली दशा होने पर, आत्मा अतीन्द्रिय सागर है, अतीन्द्रिय आनन्द का मूलस्वरूप है - ऐसा उसे स्वाद सम्यग्दर्शन में, धर्म की दृष्टि में, प्रथम श्रेणी में आनन्द है - ऐसा वेदन और अनुभव हो जाता है, उसे ज्ञानी और धर्मी कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया?

इसमें पाठ क्या है? देखो, '**सुक्ख णिलीणु**' शब्द क्या है? '**बुहु सम सुक्ख णिलीणु**' पहला शब्द है। कहो, मनसुखभाई! इसका नाम भी मनसुख है। है उसमें - ९३ में शब्द? शब्द है - ऐसा कहता हूँ। मैं मनसुख का कहाँ कहूँ? कहो, समझ में आया? मन में सुख है, यह मान्यता भी मिथ्यादृष्टि मूढ़ की है - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : मन अर्थात् ज्ञान - ऐसा अर्थ होता है।

उत्तर : यहाँ यह नहीं लेना। मन अर्थात् विकल्प, जो शुभ-अशुभपरिणाम में सुख है, वह मिथ्यादृष्टि उसे मानता है। जैन सर्वज्ञ की परमात्मा की दृष्टि से विरुद्ध मान्यतावाला यह मानता है। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव.... लेट क्यों हुआ? कल्याणजीभाई! इधर आओ नजदीक। अभी हिन्दी चलता है, परन्तु हमारे जगजीवनभाई कहते हैं, आज गुजराती करना, हमारे मेहमान आये हैं। क्या कहा?

कि जो कोई ज्ञानी, ऐसा शब्द पड़ा है। सम,

सम शब्द में 'शम' चाहिए। यह अर्थ में भूल है। '**ज्ञानी सम सुख में लीन होकर बारम्बार आत्मा का अनुभव करता है**' इतने शब्दों का अर्थ चलता है। सम सुख - भगवान परमेश्वर ने सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव ने केवलज्ञान में इस आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द भगवान ने देखा है। है अतीन्द्रिय आनन्द का उलटारूप, अनादि काल से शुभ और अशुभ विकार करके, पुण्य और पाप के भाव करके वह दु:ख का वेदन और अनुभव करता है। इस दु:ख के वेदन का नाम मिथ्यादृष्टिपना और अज्ञानपना है।

मुमुक्षु : पुण्य का फल दु:ख?

उत्तर : यह पुण्य फल नहीं, पुण्य स्वयं दु:ख है। ९३ गाथा है। '**जो सम सुक्ख णिलीणु**' शब्द है। '**सम सुक्ख णिलीणु**' अर्थात् समसुख में लीन... लीन है। धर्मी उसे कहते हैं, गृहस्थाश्रम में रहने पर भी सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं कि आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति है, उसे पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव की रुचि छोड़कर, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद अन्तर में दृष्टि में-श्रद्धा में, ज्ञान में लेता है, उसे धर्मी और सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। कल्याणजीभाई! यह सूक्ष्म है, सूक्ष्म बात है, हाँ! कल्याण का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहा...हा...! 'केवली पण्णत्तो धम्मो शरणं' पहाड़ा तो सुबह-शाम बोलता है।

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने तीर्थङ्करदेव त्रिलोकनाथ ने सौ इन्द्र की उपस्थिति में / हाजिरी में समवसरण की सभा में महाविदेहक्षेत्र में विराजमान तीर्थङ्कर सीमन्धरप्रभु आदि वर्तमान है, और ऐसे अनन्त तीर्थङ्कर इस भरतक्षेत्र में पूर्व में हो गये हैं। वे अभी यहाँ नहीं हैं, वे सिद्धालय में। जो महावीर भगवान आदि हुए, यहाँ थे तब तक अरिहन्त पद में थे, तत्पश्चात् अभी तो अब सिद्धपद शरीररहित हो गये हैं। महाविदेहक्षेत्र में भगवान विराजमान हैं, वे तो अभी अरिहन्त पद में हैं। शरीर है, वाणी है, उपदेश है। महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर परमात्मा तीर्थङ्करदेव मौजूद महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। उन सब तीर्थङ्करों ने केवलज्ञान में ऐसा जानकर कहा कि भाई! तूने अनन्त काल परिभ्रमण में बिताया, उसका कारण कि भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द जैसा सिद्ध भगवान को आनन्द - अतीन्द्रिय आनन्द है, इन्द्रियरहित, रागरहित... ऐसा आनन्द तुझमें है परन्तु तुझे उस आनन्द की रुचि नहीं हुई है। तेरी रुचि पुण्य और पाप के भाव, शुभ और अशुभ... उनमें तेरी रुचि पड़ी है, वह दु:ख की रुचि है। निर्धनता दु:ख नहीं है और सधनता सुख नहीं है, वह धूल तो बाहर की चीज है। यह मूढ़ उसमें कल्पना करता है कि मैं निर्धन! ऐसी दीनता की कल्पना उसे दु:खरूप है। सधनता सुख नहीं है, वैसे ही दु:ख नहीं है परन्तु मैं सधन हूँ - ऐसी ममता का भाव दु:खरूप है। समझ में आया?

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द सिद्धस्वरूप है, वह तो... सिद्ध परमात्मा हुए, वे कहाँ से हुए? वह निर्दोष दशा लाये कहाँ से? बाहर से आती है? कल्याणजीभाई! पीपर का दृष्टान्त दिया था। उस दिन एक बार दिया था। मुम्बई, उसे याद है। उस दिन बोले थे, छोटी पीपर का (दृष्टान्त दिया था)। वह इतनी छोटी पीपर होती है न? उसमें चौंसठ पहरी चरपराहट भरी हुई है अन्दर और अन्दर हरा रंग पड़ा हुआ है, वह घोंटने से होता है, वह कोई पत्थर से नहीं होता। पत्थर से होता हो तो कोयले और कंकड़ घिसना चाहिए, रसिकभाई! यह लॉजिक से बात है या नहीं? यह वकील है ना थोड़े? यह तो लौकिक का वकील है, यह तो भगवान का लोकोत्तर वकील है।

कहते हैं कि भाई! उस पीपर का दाना इतना, काला, अन्दर हरा, जरा चरपरा दिखे, अन्दर चौंसठ पहरी है। चौंसठ अर्थात् रुपया, रुपया.... चरपराहट

पड़ी है, उसे घोंटते घोंटते अन्दरमें से आती है, प्राप्त की प्राप्ति है, हो उसमें से आती है, कुएँमें से बर्तन में (पानी) आता है, इसी प्रकार इस पीपर में चौंसठ पहरी अर्थात् रुपया-रुपया चरपराहट (भरी है)। यह तुम्हारी हिन्दी में चरपराहट कहते हैं, हमारे यहाँ काठियावाड़ में उसे तीखाश कहते हैं। वह तीखाश चौंसठ पहरी पड़ी है, हरा रंग पड़ा है तो पड़ा है, वह प्राप्त होता है। वैसे ही आत्मा के दाने में अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय सर्वज्ञपद पड़ा है। वह कौन जाने कहाँ होगा? उस पीपर की बात बैठती है कि बात सच्ची है।

यहाँ भगवान कहते हैं, आत्मा में अन्तर वस्तु में वर्तमान में पुण्य-पाप के विकल्प जो राग उत्पन्न होता है, वह तो दु:ख है, आकुलता है, बन्ध का कारण है, वह आकुलता जन्म-मरण के परिभ्रमण का कारण है, उस पुण्य-पाप के भाव.... विकल्परहित अतीन्द्रिय भगवान आत्मा है, उसका अन्तर में ज्ञानी को अनुभव होने पर यह आत्मा पूरा अतीन्द्रिय पूर्ण स्वरूप से भरा हुआ है। पीपर चौंसठ पहरी चरपराहट से भरी है, वैसे आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से भरा है- ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञानी को आत्मा के आनन्द का, आत्मा में आनन्द है - ऐसा भरोसा आता है। वह पुण्य-पाप में आनन्द नहीं मानता, स्त्री -परिवार में आनन्द नहीं मानता, राजपाट में नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि जीव कहीं सुख नहीं मानता। समझ में आया? इसमें समझ में आता है? कामदार! क्या है कौन जाने? यह किस प्रकार की बात होगी? आहा...हा...!

(प्रवचनका शेष अंश अगले अंकमें...)

***

पूज्य भाईश्री शशीभाईजी के प्रवचन अब You tube पर

परम उपकारी पूज्य भाईश्री शशीभाईजी के प्रकाशित पुस्तकों के प्रवचन गुजराती एवं हिन्दी भाषा के Subtitle साथ अब देखिये। You tube में Satshrut prabhavna channel पर जाकर यह प्रवचन सुन सकते हो। राज-हृदय, कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी के ग्रन्थ पर हुए प्रवचन अभी चल रहे हैं। हर रविवार सुबह ११ बजे इन प्रवचनों का जीवंत प्रसारण होता है, जिसका सर्व मुमुक्षुओं को लाभ लेने की विनती। Channel को Subscribe करने से आगामी प्रसारित प्रवचन का Notification स्वयं ही प्राप्त हो जायेगा।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (अगस्त-२०२२) का शुल्क श्रीमती कृपालीबहिन पियूषभाई भायाणी, कोलकाता के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रंथके वचनामृत-२६९ पर भाववाही प्रवचन, दि. ९-६-१९८३, प्रवचन क्रमांक-१२५ (विषय : मार्गदर्शन)

मैं अभेद हूँ। 'निर्विकल्प अहम्' ऐसा एक पाठ है। मुझमें विकल्प-भेद नहीं है-यह तो नास्तिका कथन है, अतः ऐसा न लेकर युँ कहा कि मैं निर्विकल्प हूँ, मैं उदासीन हूँ। आहाहा..! ऐसी वस्तु समझनेके लिए सभी आग्रह छोड़ने चाहिए। 'हम जानते हैं'-ऐसा भी अभिमान छोड़ना होगा। मैं उदासीन हूँ-मेरी बैठक तो ध्रुवमें है-मेरा आसन ध्रुव है-मैं परसे तो उदास हूँ ही-पर्यासे भी उदास हूँ। २६९.

परमागमसार-२६९ बोल। पृष्ठ-४९। '**मैं अभेद हूँ। 'निर्विकल्प अहम्' ऐसा एक पाठ है। मुझमें विकल्प-भेद नहीं है-यह तो नास्तिका कथन है, अतः ऐसा न लेकर युँ कहा कि मैं निर्विकल्प हूँ, मैं उदासीन हूँ।**' आत्माका मूल स्वरूप भेदसे ... जिसमें गुणभेद, पर्यायभेद जिसका अनुभव करने पर दिखते नहीं, अनुभवमें नहीं आते अर्थात् मर्यादितरूपसे रहे भेद, अभेदकी मुख्यतामें इतने गौण हो जाते हैं कि उसका ज्ञान रहता होने पर भी वे अनुभवमें नहीं आते। उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है ऐसा नहीं। अर्थात् भेद सम्बन्धित ज्ञान नष्ट हो जाता है और भेद नहीं है अथवा तो गुणभेद को नहीं माननेवाले जैसी स्थिति है ऐसा नहीं।

गुणभेद यथास्थानमें जाननेके अतिरिक्त अनुभवमें अवलंबनमें उसका आधार लेनेकी जरूरत नहीं है, आवश्यकता नहीं है। मात्र वस्तुस्वरूपके बंधारणकी व्यवस्थाका वह विषय है। स्वरूपका बंधारण कैसा है? तत्त्वका-पदार्थका बंधारण कैसा है? इतना समझनेके लिए ही वह विषय है। अनुभव करनेके लिये उसका काम नहीं है, अनुभव करनेके लिए वह काम नहीं आते। ऐसी जो अभेद वस्तु है वह तो स्वयं अभेद निर्विकल्प वस्तु है।

इसलिये ऐसा लिया है कि '**मैं अभेद हूँ।**' अभेद हूँ यानी 'निर्विकल्प अहम्' ऐसा पाठ है, ऐसा कहते हैं। शास्त्रोंमें स्वरूप सम्बन्धित पाठ ऐसा है। विकल्प रहित वस्तु है। जिसमें विकल्पका अभाव है ऐसा विकल्पके अभावस्वभावरूप तत्त्व है। ऐसा जो अभेद तत्त्व है उसमें विकल्प नहीं है, भेद नहीं है। इस तरह 'नहीं है' ऐसा नास्तिसे यहाँ कथन नहीं किया है, हूँ ऐसा कथन किया है। 'निर्विकल्प अहम्' अथवा अभेद हूँ, निर्विकल्प हूँ ऐसा हूँ, ऐसा अस्तिसे कथन किया है। विकल्पवाला नहीं हूँ ऐसा नास्तिसे कथन नहीं किया है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- वैसे तो एकसमान होता है...

पूज्य भाईश्री :- एकसमान होनेपर भी उसमें अंतर है। कथन-कथन करनेमें जो ध्वनि एवं भाव उत्पन्न होता है उसमें अर्थघटन भले ही वही है, अर्थघटनके साथ कोई तकरार नहीं है कि इसमें अर्थघटन बदल जाता है,

फिर भी जिससे भावका आविर्भाव हो, ऐसा इसमें हेतु है। कोई हेतु तो है न?

वस्तु जैसी है वैसी है। आत्मपदार्थ जैसा है वैसा है, फिर भी उसकी कथनकी शैलीमें अनेकविध प्रकार है। उसे कहनेवाले जो शब्द है उसमें अनेक शैली है। वह जो अनेकविध शैली है उसका हेतु क्या है? उसका हेतु यह है कि अधिक से अधिक भाव कैसे व्यक्त हो सके, प्रदर्शित किये जा सके कि जिससे उसकी प्रत्यक्षता होनेका अवसर हो और उससे वह भाव आविर्भूत हो, स्वभावभावका आविर्भाव हो ऐसा मूल हेतु रहा है।

'**मैं अभेद हूँ। 'निर्विकल्प अहम्' ऐसा एक पाठ है। मुझमें विकल्प-भेद नहीं है-यह तो नास्तिका कथन है,...**' वह प्रकार नहीं लिया ऐसा कहते हैं। '**युँ कहा कि मैं निर्विकल्प हूँ, मैं उदासीन हूँ।**' ऐसा कहा। इस तरह तत्त्वको अस्तिसे स्थापित किया है ऐसा कहना है। निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ अथवा ज्ञायक हूँ, चैतन्य स्वभावी हूँ, इस प्रकार उसकी मौजूदगीको-अस्तित्वको स्थापित करते हैं। जब स्वयंके भावका आविर्भाव करना है, अनुभव होने अर्थ उसमें उसमें मग्नता करनी है, लीनता करनी है तब उसके अस्तिके पहलूको मुख्य करके उसका विचार शुरू होता है। इसमें है न? रहस्यपूर्ण चिट्ठीमें कि सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होनेका वर्णन। वहाँ भी ऐसी बात ली है। मैं ऐसा हूँ.. मैं ऐसा हूँ.. मैं ऐसा हूँ.. इस तरह हूँ.. हूँ.. हूँ.. हूँ.. ऐसा प्रकार लिया है। मोक्षमार्गप्रकाशक है न? ऐसे अहंबुद्धि करता है ऐसा लिया है वहाँ, इस तरह स्वरूपमें अहंबुद्धि करता है।

'**वही सम्यक्त्वी कदाचित् स्वरूप ध्यान करनेको उद्यमी होता है,...**' उसे यह विचार, विकल्प आता है कि मुझे मेरे स्वरूपका ध्यान करना है। ऐसी इच्छा, ऐसा विकल्प होता है। वहाँ वैसी चेष्टा और प्रयत्न करता है। '**वहाँ प्रथम भेदविज्ञान स्वपरका करे,...**' विचार शुरू करे उसमें स्वपरके भेदविज्ञानका विकल्प चले। '**नोकर्म-द्रव्यकर्म-भावकर्मरहित केवल चैतन्य-चमत्कार-मात्र अपना स्वरूप जाने;...**' जाने यानी यहाँ अवलोकन करे। यह सविकल्पदशामें होता है। '**पश्चात् परका भी विचार छूट जाय;...**' स्वपरका भेदविज्ञान (करे) उसमें परका विचार भी छूट जाय। क्योंकि परकी नास्ति है। राग, विकल्प एवं परकी नास्ति है इसलिये उसका भी उपयोग है वह, स्वरूपमें शुद्धोपयोग उत्पन्न होने के लिये उपयोगका विषय जो पर है, नास्तिरूप है वह भी बंद हो जोता है। वह छूट जाय, ऐसा लिया है हाँ! परका भी विचार छूट जाय।

'**केवल स्वात्मविचार ही रहता है;...**' निज आत्माका विचार रहे। अभी विकल्प रहे उसकी बात है। '**वहाँ अनेक प्रकार निजस्वरूपमें अहंबुद्धि धारता है।**' यह मुद्देका विषय है। जब प्रयोग चलता है, यह ध्यानका प्रयोग है, सम्यग्दृष्टिकी बात लेनी है न? अतः स्वरूप कैसा है यह जाननेका बाकी नहीं है, अनजान नहीं है, उसकी जिज्ञासाका वह स्टेज नहीं रहा है, यह प्रश्न चिह्न वहाँ खत्म हो गया, अनुभव हुआ है, अनुभूतिकी ज्ञाताधारा वर्तती है, फिर भी वह शुद्धोपयोगके ध्यानका प्रयोग करता है तब निजस्वरूपमें अनेक प्रकारकी अहंबुद्धि धारता है।

मनुष्यको आविर्भाव होनेमें यह एक मुख्य मुद्दा है। अनुभवको जाँचने जैसा यह मुद्दा है। अनुभव पद्धतिसे समझने जैसा मुद्दा है कि जहाँ-जहाँ ममत्व है वहाँ-वहाँ भावका आविर्भाव होना सहज है और परायेमें परायी जगहमें, पराये स्थानमें, पर वस्तुमें भाव आविर्भूत नहीं होता। लोग ऐसा कहते हैं न कि धायमाता बालकका चाहे जितना लालनपालन करे तो भी उसकी अपनी माँ जितना उस बालकके प्रति प्रेम नहीं आता। कारण क्या है? अपनत्व नहीं है। उसकी माँ धौल मार भी दे। बालककी प्रकृतिवशात् या चाहे जो भी हो, बालक है, बालबुद्धिसे वर्तता बालक है तो धौल मारे, तमाचा मारे तो भी उसका प्रेम चला गया है, ऐसा नाप नहीं निकाल सकते। गुस्सा होकर मारती है, प्रत्यक्ष मारती

है न? वहाँ कोई तर्क नहीं करता। यहाँ सम्यग्दृष्टिमें तर्क करता है कि उसे विकल्प क्यों आया? उसे राग क्यों आया? उसे ऐसा विचार क्यों आया? ऐसा विकल्प क्यों हुआ? लेकिन भाई! वह सब धायमाताकी बात (जैसी) है। उसे विकल्प प्रति प्रेम नहीं है।

उसे जो निजात्मामें प्रेम है, रुचि है, अपनत्व है ऐसा अपनत्व कहीं नहीं है। ऐसी बात है। लालनपालन करे इसलिये अधिक प्रेम है और मारे तो कम प्रेम है ऐसा नाप वहाँ गलत साबित होता है। इस तरह यहाँ भी वह अहंबुद्धि धारता है, अहंबुद्धिसे विशेष-विशेष अहंबुद्धिका भाव करता है, सविशेषभाव करता है। वहाँ इतनी बात ली है, मैं '**चिदानन्द हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ...**' हूँ.. हूँ.. हूँ.. हूँ.. हूँ.. हूँ.. हूँ.. ऐसे बोल लिये हैं। मैं '**चिदानन्द हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ...** ' सब अस्तिके बोल ही लिये हैं। '**इत्यादिक विचार होनेपर सहज ही आनन्द तरंग उठती है...** ' ... एकाग्रता विशेष होती है। यह बात ली है।

अपने यहाँ चलते बोलमें जो विषय है (उसमें) अस्तिका बोल है ऐसा कहना है। अब यहाँ ऐसा कहते हैं कि '**ऐसी वस्तु समझनेके लिए सभी आग्रह छोड़ने चाहिए।**' यह मुद्देकी बात की है कि ऐसे निर्विकल्प उदासीन शुद्धात्मतत्त्वको समझनेके लिये आत्मा सम्बन्धित दूसरा कुछ भी सोच लिया हो वह सब पूर्वाग्रह, आग्रह है वह सब पूर्वग्रह है वह सब छोड़कर उसे समझनेका प्रयास करना चाहिए। गुरुदेवश्री कहते थे कि एकबार कोरी पाटी होकर (समझना)। आसान नहीं है... कोरी पाटी होना। क्योंकि उसने जो पूर्वमें स्वीकार कर लिया है, उस स्वीकारमें भी विपरीत बल होता है, उसका जोर होता है। परन्तु जो कुछ अभी तक संग्रह किया है उसके फलस्वरूप मेरी जो दशा चाहिए, निरावरण दशा चाहिए, अपूर्व दशा चाहिए ऐसी दशा प्रगट नहीं हुई है, मोक्षमार्गका पत्ता नहीं लगा है। इसलिये विचार करके उसको उसे गौण कर देना चाहिए। निकलेंगे तो कब? कि जब सत्य वस्तुका प्रवेश हो तब। इसके पहले उसे अत्यंत गौण कर देने चाहिए। जो कुछ समझ हुई है वह समझ यदि बराबर होती तो उसका फल भी मुझे बराबर उपस्थित-हाजिर हुआ होता, उसका लाभ हुआ होता। इसलिये ऐसा कहते हैं कि '**ऐसी वस्तु समझनेके लिए सभी आग्रह...**' पूर्वमें सुना हो, विचार किये हो, निर्णय किया हो, निश्चित किया हो, श्रद्धा की हो, वह '**सभी आग्रह छोड़ने चाहिए।**' '**ऐसी वस्तु समझनेके लिए सभी आग्रह छोड़ने चाहिए।**'

मुमुक्षु :- इसमें बहुत ले लिया, सभी आग्रह छोड़ने उसमें सब ले लिया।

पूज्य भाईश्री :- सभी आग्रह छोड़ने। यह मुख्य विधि है। पूरे पैरेग्राफमें इस बात पर खास ध्यान खींचा है कि कोई न कोई पूर्वग्रह जीवको होता ही है। जिस स्थितिमें है उस स्थितिका कारण भी उसने सेवन किया है इसलिये उस स्थितिमें है। हलका होता है तब तो सब मालूम पड़ता है कि इसके पूर्व जो माना था उसे तोड़नेके लिये अन्दरमें थोड़ा बल लगाना पड़ता है, परिश्रम होता है, द्वंद्व चलता है, युद्ध चलता है। पूर्वकी जो कोई मान्यता है उसे मिटाना कठिन पड़ता है, ऐसा सब लगे, उसके बाद वह छूटता है। इतने प्रोसेसमें से बाहर निकले तब छूटता है, यूँ ही नहीं छूटता।

इस प्रकार परमसत्यके आदरपूर्वक। ऐसा है। सभी जो आग्रह छोड़ने चाहिए, उसमें परमसत्यका इतना आदर है, मूल तो यह बात है। मुख्य बात ही यह है कि सत्यका जो आदर है, सत्यको स्वीकार करनेकी तैयारीवाला भाव है कि किसी भी क़िमत पर, किसी भी प्रकार से, चाहे जैसे-तैसे भी सत्यका ग्रहण करना है, परम आदर है उसको ग्रहण करना है और उसके अलावा कुछ नहीं चाहिए। इतनी उसकी तैयारी हो तो हल्का हुए बिना नहीं रहता।

एक दृष्टांतसे वह बात ली है। ''**हम जानते हैं'-ऐसा भी अभिमान छोड़ना होगा।**' खास करके मनुष्यपर्यायमें जो कुछ आड़े आता है, रुकनेका कोई

बड़ा कारण हो तो वह यह है। सामान्यरूपसे मनुष्यको अभी तक जो भी समझ एकत्रित हुई है, उस सम्बन्धित अभिमान स्थूलरूपसे या सूक्ष्मरूपसे चालू रहता है। यह तकलीफ है।

जब तक यथार्थ निर्णय एवं अनुभव नहीं होता तब तक, कुछ समझा नहीं ऐसा आना चाहिए। तकलीफ तो वहाँ होती है कि लेकिन समझा तो हूँ। समझनेका प्रयास किया था। उस प्रयासके फलस्वरूप उसने विषयको बुद्धिगोचर किया था। वह तो उसने समझ की या नहीं की? अब, वह समझ की है फिर भी, समझा नहीं हूँ, ऐसा कैसे लेना? हक़ीकतका इनकार कैसे करना? यह प्रश्न होता है। जो कुछ समझा है, बुद्धि लगाई है, उपयोग लगाता है न? अपनी बुद्धिको एप्लाय करता है। तब उसे समझमें कोई बात, किसी न किसी प्रकारसे निश्चित होती है, फिर भी मैं समझा नहीं हूँ, ऐसा कैसे लेना? वह तो हक़ीकतका उल्लंघन करने जैसा नहीं होगा? इस तरह वह हक़ीकतका उल्लंघन नहीं कर सकता है। क्योंकि वह भी एक तथ्य तो खड़ा हुआ है या नहीं? उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। यह दुष्कर क्यों है? यह विषय दुष्कर क्यों होता है? कि वह ज्ञानमार्गसे या क्रियामार्गसे, मुख्य दो मार्ग है, अथवा ज्ञान, क्रिया, भक्ति आदि तीन प्रकार लो, कोई भी मार्ग पर वह जाता है तब उसकी कुछ न कुछ प्रक्रिया तो बाहरमें शुरू होती है। स्वयंके परिणाम एवं बाह्यक्रिया-मन-वचन-कायाकी, दूसरे निमित्तोंकी देव-गुरु-शास्त्रकी, तब उतना कार्य हुआ, उसका वह कैसे उल्लंघन करे? उतना कार्य तो हुआ। पहले जो कोई सांसारिक कार्य थे उससे विलक्षण, अन्य प्रकार से कोई न कोई तो हुआ न? वह कार्य हुआ वह स्वयंकी इच्छासे किया है, स्वयंके भावसे किया है, इसलिये मैंने किया है, इस बातका उल्लंघन कैसे करे? यह प्रश्न उपस्थित होता है।

लेकिन जिसकी दृष्टि ऊपर है, ऊँचाई पर है, जिसे ध्येय प्राप्तिके लिए कार्य करना है, उसे जब तक ध्येय प्राप्त न हो तब तक उसे वह कार्य किया, इस प्रकार गिनते नहीं। बाकी है ऐसा देखता है, उसकी नज़र बाकी है उस पर है। इसमें दृष्टि के फ़र्क में फ़र्क है। जिसकी नज़र बाकी है उस पर है, वह आगे बढ़ता है, और किया, उस पर जिसकी नज़र है वह अटक जाता है। भले ही वही का वही किया करे। अटक क्यों गया? कि वही का वही करनेमें अटक गया। वही का वही करता है इसलिये आगे बढ़ रहा है ऐसा वहाँ नहीं रहता। वहाँ वह अटक गया। ऐसा उसका हिसाब है।

खास करके ज्ञानका क्षयोपशम, बुद्धिका क्षयोपशम, यह सबसे बड़ा फँसनेका कारण है। उस सम्बन्धित मान है वह रहता है। तो कहते हैं कि '**'हम जानते हैं'-ऐसा भी अभिमान छोड़ना होगा।**' ऐसा कोई अभिमान मान सम्बन्धित। कुछ भी नहीं है, मैं शून्य समझा हूँ, समझनेमें अभी शून्य हूँ, उसकी कुछ भी फलप्राप्ति न हो तब तक उसकी समझके बारेमें कुछ भी मान हो, उस प्रकारमें नहीं आना चाहिए। यह विषय है।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- सर्व साधकोंकी नज़र ही पूर्ण द्रव्य पर होती है। मुनि हो या सम्यग्दृष्टि हो, सर्व कक्षाके साधककी दृष्टि 'आत्मा परिपूर्ण द्रव्य है', इस पर है। अतः उसकी अवस्थामें विकासको कदापि मुख्य करके उसका मान हो, यह अवसर साधकपनेमें होता नहीं। बाधकपनेमें वह भाव उत्पन्न होता है, साधकपनेमें उत्पन्न नहीं होता। यह परिस्थिति है। इसीलिये तो यह लाइन है वह अलग जातकी है। जगतमें मान एक ऐसा ठगनेवाला पद है कि नम्रताका भी मान हो जाता है। प्रकृति नर्म हो। हमें नम्रता जचती है, नम्रता रखते हैं। हम तो हर जगह नर्म... नर्म.. नर्म.. नर्म.. उसका मानसेवन हो जाये। त्यागका मान, नम्रताका मान, ज्ञानका मान। यह सब क्यों उत्पन्न होता है? कि जो त्रिकाली शुद्धात्म पद है, परिपूर्ण पद है, गुणभण्डार है, अवगुणका जहाँ नामोनिशान, गंधमात्र नहीं है, उस पर दृष्टि नहीं है इसलिये वह सब होता है। उस पर दृष्टि आये (तो) पूरा

मार्ग सम्यक् है। जिसे वीतरागमार्ग कहते हैं वह सम्यक्मार्ग है। फिर साधककी कोई भी कक्षा हो उसे वास्तवमें बाधकपना नहीं है।

''हम जानते हैं'-ऐसा भी अभिमान छोड़ना होगा। मैं उदासीन हूँ-मेरी बैठक तो ध्रुवमें है- ' जो बैठना है, स्वआश्रय करना है उस ध्रुवमें मेरी बैठक है। उसके अलावा, मेरे ध्रुवपदके अलावा सर्व स्थान मेरे लिये अन्य स्थान हैं, मेरे बैठनेका वह स्थान नहीं है। इसलिये सर्व अन्य के प्रति, समस्त अन्य द्रव्य-भाव के प्रति मैं केवल उदासीन हूँ। ऐसा लेना है। इस तरह उदासीनता ली है। एक निज स्वरूप के आदर के आगे, फिर किसीका आदर करनेका सवाल नहीं रहता। समस्त जगतके प्रति उदास.. उदास.. उदास.. क्यों उदास है? कि उसे कहीं भी स्वयंका प्रयोजन भासित नहीं होता। उसे जो कुछ ज्ञानमें ज्ञात होता है, उसे जानते हुए भी वह मेरे प्रयोजन रहित है, रहित है। क्योंकि आत्माका लक्ष है न? इसलिये उसे निष्प्रयोजनभूत विषय लगता है। उसमें उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। उसमें उदासीनता होती है। उसमें मेरा क्या प्रयोजन है? मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है। उसकी उपेक्षा हो जाती है। जहाँ प्रयोजन नहीं है वहाँ उपेक्षा हो जाती है।

दुकान पर भाव पूछने आया हुआ ग्राहक, ग्राहकके वेशमें है, भाव पूछता है लेकिन व्यापारीको उसमें प्रयोजन दिखाई न दे कि यह लेनेवाला नहीं है और मुझे कुछ मुनाफा नहीं होनेवाला है। (इसलिये उसकी) उपेक्षा करता है। उसकी अपेक्षा नहीं करता अपितु उपेक्षा करता है। उसके प्रति उसे बेपरवाही सहज ही उत्पन्न हो जाती है। ज्ञान होते ही। प्रयोजनभूत ज्ञानका यह लक्षण है कि जो विषय ज्ञानमें अप्रयोजनभूत भासित हो उसके प्रति उसे उपेक्षा और उदासीनता उत्पन्न हो जाती है।

इसलिये ऐसा कहते हैं कि '**मैं उदासीन हूँ...**' उदासीन हूँ इसलिये समस्त जगतके प्रति उदासीन हूँ। ऐसा लेना है। इस विश्वमें मुझे कोई सुखका कारण नहीं है। अनंत सुखका भण्डार ऐसा जो मेरा आत्मा वह एक ही मुझे सुखका स्थान है, सुखका आश्रय है, मैं सुखस्वरूप हूँ। बाकी सब मेरे सुखसे शून्य है। ऐसा देखता है। इसलिये उदासीनता आये बिना नहीं रहती।

'**मेरी बैठक तो ध्रुवमें है-मेरा आसन ध्रुव है-**' देखिये! बैठक ली, आसन लिया। जहाँ जमना है। ये पद्मानस करते हैं कि नहीं? जल्दी छूटे नहीं। पद्मासनकी वह स्थिति इसलिये है कि मानो पैर बँध गये। दूसरे प्रकारसे बैठक हो (तो) शरीरकी चंचलता रहती है। पद्मासनमें फिर कोई चंचलता नहीं है। जैसे लकड़ा रख दिया हो उस तरह जम जाता है। पुरुषार्थकी उग्र स्थितिमें यह आसन सहज ही है। ऐसा प्रकार ही आता है।

कहते हैं कि '**मेरा आसन...**' वह तो शरीरका विषय निमित्तका हो गया। यहाँ कहते हैं कि '**मेरा आसन ध्रुव है...**' हलचल रहित जो चीज, स्थिर चीज, निश्चंचल स्वभाव, अचलित स्वभाव, उस स्वभावमें मेरा आसन है। अर्थात् उस स्वरूप मैं हूँ।

... भी मैं उदास हूँ। ऐसा लिया है। जगतके पाँच इन्द्रियोंके विविधता युक्त विषय हैं। अनेक विषयोंकी विधविधता बहुत है। उससे तो मैं उदास हूँ। उसमें तो मेरे सुखसे वह सब शून्य भासित होते हैं, रहित भासित होते हैं परन्तु मेरी वर्तमान अवस्थाकी भी मैं अपेक्षा नहीं करता हूँ। परिपूर्ण होनेसे, स्वरूपसे मैं परिपूर्ण होनेसे सुखादि गुणोंसे भी स्वभावसे परिपूर्ण होनेसे एक समयकी पर्यायकी भी मैं अपेक्षा नहीं करता हूँ।

यह पर्याय ऐसी हो तो ठीक, त्रिकाली ऐसे मुझे उसकी अपेक्षा नहीं है। ऐसा भाव है। त्रिकालीमें ऐसा उत्पादभाव नहीं है, व्यक्त भाव नहीं है। परन्तु ऐसे भाव ही मेरा स्वरूप है ऐसा लेना। ऐसा भाव व्यक्त नहीं होनेपर भी स्वभाव तो ऐसा ही है कि जो त्रिकाल एक समयकी पर्याय एवं समस्त पर ऐसा जगत, उन सबसे उदास है। किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। कोई परपदार्थ और कोई पर्याय के बिना उसने स्वयंका जैसा स्वरूप है वैसा त्रिकाल टिकाये रखा है। उतनी सामर्थ्य लेकर वह

पदार्थ (रहा) है। ऐसी उसकी स्वयंकी महासत्ता है। स्वयं ऐसा है, ऐसा जाननेवाली पर्यायके प्रति उदास है उसे पर्यायमें मान या अभिमान होनेका, मुख्य होनेका प्रश्न नहीं रहता। उदासीनताके कारण जो पर्याय गौण रहती है उसका मान होनेका सवाल कहाँ रहा? जिस पर्यायकी मुख्यता ही नहीं होती, अरे..! उसका लक्ष नहीं होता। ज्ञात होती है फिर भी उसका लक्ष नहीं है, अनुभवमें आती है फिर भी उसका लक्ष नहीं है, उसका विकास ख्यालमें आता है तो भी उसका लक्ष नहीं है, फिर जिसका लक्ष नहीं है उसकी मुख्यता होनेका प्रश्न नहीं रहता। इस प्रकार, उस परसे तो मैं उदास हूँ लेकिन पर्यायसे भी मैं उदास हूँ। इस तरह स्वयंके ध्रुव स्वभावमें आसन जमाकर, यह ध्यानका आसन है—एकाग्रताका आसन है, सम्यक् प्रकारसे पर्याय आदि समस्त परकी उपेक्षा हुई वही योग्य है, वही उचित है, वही सम्यक् है। इसके सिवा दूसरा कोई प्रकार है वह सब असम्यक् है, सम्यक् नहीं है अपितु असम्यक् है।

मुमुक्षु :- ध्यानमें पद्मानस और खड़गासन...

पूज्य भाईश्री :- ध्यानकी दो अवस्था है। दूसरे कोई ध्यानके प्रकारमें परिणामकी चंचलताके साथ सुसंगतता नहीं है। मुनिओंको तो चलते-फिरते, खाते-पीते शुद्धोपयोग हो जाता है। वह तो विकसीत दशा है। परन्तु बाह्य निमित्तकी सापेक्षतासे विचार करे, सम्बन्ध जोड़कर विचार करे तो जैसे धमालवाला बाह्य स्थान एकाग्रता होनेके लिए अनुकूल नहीं गिननेमें आता। शांत, एकांत और निर्जन स्थल उसके लिये सुसंगत है। विवेक करनेमें आये तो उसकी सुसंगतता कहाँ है? एकांत शांत, निर्जन स्थल हो वहाँ स्वरूपध्यानीको ध्यान करना उचित गिना जाता है। वह बाहरका विवेक है।

वैसे, मन-वचन-कायामें भी कायाकी स्थिति खड़गासनमें और पद्मानसमें (हो), कोई अर्धपद्मासनकी प्रतिमाएँ पहले देखी है, सामान्यरूपसे पद्मासन है वह अधिक सुसंगत है और एक खड़गासन है। जैसे तलवार खड़ी हो, दोनों हाथ सीधे। अपनेमें काउसग्गकी (मुद्रा हो) वह खड़गासन है। निर्वाणके कालमें कोई भी मुनि केवली होते हैं तब इन दोनोंमें से एक ध्यानकी स्थिति होती है। केवलज्ञान तो ध्यानमें प्रगट होता है न। शुक्लध्यानमें प्रगट होता है। उस शुक्लध्यानकी-उज्ज्वल ध्यानकी लीनतामें शरीरकी यह दो स्थिति होती है। वह स्थिति फिर नित्य रह जाती है। केवलज्ञानमें जो स्थिति हो गई, पद्मासन हो तो पद्मासन और खड़गासन हो तो खड़गासन। सादिअनंत अनंत काल उस स्थितिमें आत्मप्रदेशके अवयव, प्रदेश जमे रहते हैं।

जब तक शरीर है तब तक उसे विभावव्यंजनपर्याय कही है। शरीरका त्याग होकर अशरीरी सिद्धदशा प्रगट होती है तब उसी आकारको स्वभावव्यंजनपर्याय कहनेमें आती है। क्षेत्रफलमें सामान्य फ़र्क पड़ता है। शरीरको जितना क्षेत्रफल चाहिए उससे विभावव्यंजनपर्याय छोड़कर उसी आकारमें स्वभावव्यंजनपर्याय प्रगट होती है तब किंचित् न्यून उतना उसका क्षेत्र होता है। ऐसा शास्त्र प्रमाण है।

उस निर्विकल्प ध्यानके प्रकारका यह बोल है। सब विध-विध विषय इसमें लिये हैं। ... निर्विकल्प ध्यानमें क्या प्रकार है, उसका प्रोसेस क्या है?

मुमुक्षु :- नास्ति से ज्यादा अस्ति है।

पूज्य भाईश्री :- अस्तिसे ही लिया जाता है। क्योंकि स्वयंको भी मौजूदगी पर, हयाती पर लीन होना है न? जो नहीं है उसका आश्रय क्या करना? जो है उसका आश्रय करना है। जो त्रिकाल हयात है, त्रिकाल मौजूद है, वर्तमानमें भी मौजूद है उस पर सर्व परिणामोंकी लीनता और एकाग्रता हो, सर्व परिणाम एकाग्र होकर वहाँ लगे ऐसा जो स्वस्थान है वह अचिंत्य रत्नचिंतामणि रत्नाकर ऐसा शुद्धात्मा है। जो चिंतवनसे उस पारका विषय है। चिंतवनमें पूरा आता नहीं। २६९ बोल समाप्त हुआ।

धन्य अवतार

पूज्य बहिनश्री चंपाबेन के संबंधमें परमपूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के उद्‌गार

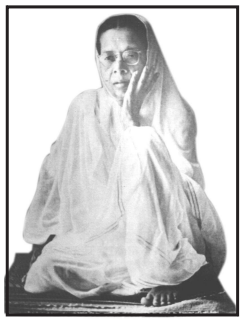

बहिन तो एक अद्‌भुत रतन पैदा हुई हैं। शक्ति अद्‌भुत है। अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन में उन्ह (बाहरकी) कुछ पड़ी ही नहीं। हिन्दुस्तानमें उनके जैसा कोई आत्मा नहीं है। यह पुस्तक बाहर आई इसलिये कुछ खबर पड़ती है।

❉

चंपाबेन अर्थात् कौन?! उनका अनुभव, उनका ज्ञान, समता अलौकिक है। ...स्त्रीकी देह आ गई है। परन्तु अंतरमें अतीन्द्रिय आनन्दकी मौजमें पड़ी हैं; उसमेंसे वाणी निकली है। -यह, उनकी वाणीका प्रमाणपना है।

❉

बहिन अलौकिक वस्तु हैं; देहसे भिन्न और रागसे भिन्न आत्माका अनुबव कर रही हैं। उन्हें (बाह्यमें) कहीं मजा नहीं आता, वे तो अतीन्द्रिय आनन्द में मौज करती हैं।

❉

वि.सं. २०३०

(श्रावण कृष्णा १४ के दिन पं.श्री हिमंतभाईके घर आहार करने पधारे तब-)

पूज्य गुरुदेव :- हिंमतभाई! देखो न, लोगों को कैसे भाव हैं, बहिनके प्रति! दूजके समय कितने ज्यादा लोग आये थे!

पूज्य बहिनश्री (अति नम्रतासे) :- साहेब! मुझे तो आत्माका करना है। यह तो सब उपाधि लगती है।

पूज्य गुरुदेव :- बहिनबा! तुम्हें क्या है? तुम तो सब देखती रहो। मेरे हिसाबसे तो अभी कम हो रहा है। तुम्हारे लिये तो लोग जितना करें उतना कम है।

❉

वि.सं. २०३३

एक स्त्री का शरीर आ गया, नहीं तो (बहिन) दूर एक क्षण नहीं रहती। ... कुछ शब्दोंकी शैली तो उनके घरकी, निवृत्ति की है। भाषा बड़ी सादी, चार कक्षा तक पढ़े हुए लोगोंको बैठ जाये ऐसी है।

❉

ता.२९-११-७७

बहिनके वचनामृत यह तो केवलज्ञानकी बारह-खड़ी है। दो-चार बार नहीं किन्तु दस बार पढ़े तब समझ में आये।

ओहो! सादी भाषा, मंत्र हैं मंत्र। यह तो लाखों शास्त्रोंका निचोड़ है। लाखों क्या? करोडों, अनंत शास्त्रोंका आशय स्व-आलम्बन कराना है। लोग पढ़ेंगे तो आहाहा! बाहुबलीमें भट्टारकने देखा तो कहने लगे कि 'मुझे दो; ओहो! ऐसी पुस्तक!'

❋

बहिनकी (चंपाबेनकी) तो क्या बात करूँ। उनकी निर्मल दृष्टि और निर्विकल्प स्वात्मानुभूति इस कालमें अजोड हैं। वे तो अंतरसे ही उदास-उदास हैं। उनके सम्बन्धमें विशेष क्या कहूँ? मेरे मन तो वे भारतका धर्मरतन, जगदम्बा, चैतन्यरत्न, धर्म मूर्ति हैं, हिन्दुस्तानका चमकता सितारा हैं।

❋

जामनगर, अप्रैल, १९७९

बहिनको असंख्य अरबों वर्षका ज्ञान है- ९ भवका ज्ञान है (४ भूतके, ४ भविष्यके)। बहिन तो भगवान के पाससे आयी हैं। अनुभवमें से यह बात आयी है। उदयभावसे तो मर गई हैं, आनन्दसे जी रही हैं। परमात्माके पाससे आयी हैं। साक्षात् परमात्मा तीन लोकके नाथ सीमंधरभगवान बिराजते हैं वहाँ हम साथ थे। क्या कहें प्रभु! सीमंधर परमात्माके पास कई बार जाते थे। उन भगवानकी यह वाणी है। बहिन तो आनन्दसागर में...

❋

यह कथा-कहानी नहीं, भागवत कथा है। परमात्माकी वाणीके इशारे हैं। उनका अनुभव करे उसे खबर पड़े। ... बहिन तो भगवती माता हैं।

❋

राजकोट, सं. २०२७

बहिन (चंपाबेन) तो बहुत ही गंभीर-गंभीर! ऐसा आत्मा इस समय हिन्दुस्तानमें नहीं है। पवित्रता-परिणति, और शुद्ध परिणति सहितका जातिस्मरणज्ञान है। वैराग्य-वैराग्य! शास्त्र में आता है कि-जब तीर्थंकर दीक्षा लेते हैं तब पहले जातिस्मरण होता है ऐसा नियम है। ... जातिस्मरण हो तब उपयोग लगाना नहीं पड़ता और फटसे ज्ञान हो जाता है, एकदम वैराग्य हो जाता है। ऐसा बहिनको हो जाता है। बहिनको जातिस्मरण होने पर वैराग्य बहुत बढ़ गया है; उन्हें बिलकुल परकी कुछ पड़ी नहीं है।

❋

राजकोट, सं.२०२७

... बहिन (चंपाबेन) को तो इस प्रकार प्रत्यक्ष देखने पर अन्तरमें ऐसा हो जाता है, खेद आ जाता है कि- 'अरेरे! कहाँ थे और कहाँ आ गये! अरे, प्रत्यक्ष सब दिखता है। अहा! यह संसार! यह प्राणी! यह दुःख!' ... बहुत अच्छा जीव, बहुत ही अच्छा जीव; संसार के किनारे आया हुआ, और ही प्रकारका। स्वयं तो कुछ कहती ही नहीं। यह तो उनकी उम्र हो गई ५८, शरीर साधारण, भोजन साधारण... यह तो कैसे निभ रही हैं!

❋

स्वानुभूतिदर्शनमें से पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन द्वारा हुई प्रयोजनभूत प्रश्नों पर तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- जिसे आत्माको समझनेकी सच्ची प्यास लगे उस जीवकी स्थिति कैसी होनी चाहिये?

समाधान :- सच्ची प्यास लगी हो तो अंतरमें प्रयास किये बिना रहता ही नहीं, प्रयास करता ही है। प्यास लगी हो तो जहाँ श्रवण करनेको मिले वहाँ जाय। और भगवान् तथा गुरु क्या कहते हैं उसका विचार करे, भीतरसे भेदज्ञान करनेका प्रयास करे। यदि सच्ची प्यास लगी हो तो 'मैं ज्ञायक हूँ... मैं ज्ञायक हूँ... विभाव मेरा स्वभाव नहीं है' ऐसे ज्ञायकको प्रगट किये बिना रहता ही नहीं। जैसे बाह्यमें अपने किसी कार्यमें कोई कठिनाई लगे तो सब दूर करके, गौण करके भी अपना कार्य करता है। वैसे ही यहाँ सच्ची प्यास नहीं लगी है, प्यास लगी हो तो प्रयास होता ही है, कोई पूछता है कि कैसे करें? क्या करें? बहुत करते हैं तो भी कार्य नहीं होता। किंतु वह बहुत करता ही नहीं है। प्यास लगी हो तो प्रयत्न होता ही है, कार्य हुए बिना रहता ही नहीं। **(स्वानुभूतिदर्शन-५६४)**

❖

प्रश्न :- प्यास लगी है यह कैसे पता चले?

समाधान :- जिसे प्यास लगी हो वह प्रयत्न करता ही है। यदि प्रयत्न नहीं करता तो समझना कि प्यास नहीं लगी है। सच्ची प्यास लगी हो तो प्रयत्न जरूर करता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-५६५)

❖

स्वाध्याय प्रेमिओंके लिए निःशुल्क भेट योजना

उक्त भेट योजना अंतर्गत पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन की १०९वीं जन्मजयंतीकी खुशालीमें उनकी तत्त्वचर्चाका ग्रन्थ 'स्वानुभूतिदर्शन' की कुछ शेष प्रत हमारे पास उपलब्ध है। जिन तत्त्वरसिक जीवोंको इसकी आवश्यकता हो उन्हें हम निःशुल्क भेट उपलब्ध करायेंगे। अतः शिघ्रातिशीघ्र नीचे दिये गये वोट्स अप नंबर पर अपना पता पीन कोड़ सहित लिखकर भेजें। इस ग्रन्थ की मर्यादित प्रत होनेसे जिनके नाम पहले आएंगे उन्हीं को भेजा जा सकेगा, जिसकी खास नोंध लेवे। यह तत्त्वचर्चा का संकलन प्रश्नोत्तरी रूपमें होनेसे जिज्ञासु जीवोंके लिए बहुत उपाकरी हो सकता है। अतः किसी ग्रंथालयोंमें इसकी आवश्यकता हो तो मँगवा सकते हैं।

संपर्क : श्री निरवभाई वोरा, मो. ९८२५०५२९१३

द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से गुरु-महिमा सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के चयन किये गये वचनामृत

सब बात का मसाला गुरुदेवश्री ने तैयार कर रखा है; जिससे कोई बात बिचारनी नहीं पड़ती। नहीं तो, साधक हो फिर भी (उसे) मसाला तैयार करना पड़ता है। ६७.

***

गुरुदेवश्री के उपदेश में इतना खुलासा है कि इस नीव से धर्म पंचमकाल तक टिकेगा, ऐसा दिखता है। १३२.

***

गुरुदेवश्रीकी सिंहगर्जना ऐसी है कि दूसरे को निर्भय बना देती है। वहीं जंगलके सिंहकी गर्जना तो दूसरेको भयाकुल बनाती है - दोनोंमें बहुत फर्क है। १३९.

***

यहाँ तो महाराजसाहब ने भूमिका तैयार कर दी है; बस! अब तो थोड़ा-सा सुख का बीज बो देना.... जिससे महा आनंद होवे। १७०.

***

इतना-इतना ख़ुलासा यहाँ से (पूज्य गुरुदेवश्री से) बाहर आ चुका है कि पंचम आरा के अंत तक चलेगा। २५३.

***

यह जो महाराजसाहब का योग मिला है - वह परम योग है, क्योंकि परम स्वभाव की प्राप्ति का कारण है। महाराजसाहब जगत्गुरु हैं, जो अकेले सिद्ध लोक में नहीं जाते, बहुत से जीवों को साथ लेकर जाते हैं। यहाँ के अधिकांश लोग साथ में चलनेवाले हैं। २७१.

***

अध्ययन आदि का काफ़ी रहस्य पूज्य गुरुदेवश्री से अपने को मिल गया है। 'क्रमबद्ध' कहाँ लिखा है, अपने को क्या दरकार है ? सिद्धांत बैठ गया और अनुभव में आ गया, फिर क्या काम ? - ऐसे महाराजसाहब से सब बातें अपने को तैयार मिल गयी हैं, जैसे कि पिता की कमाई हुयी पूँजी वारिसे में (विरासत में) बिना प्रयत्न के मिल जाए। ३१४.

***

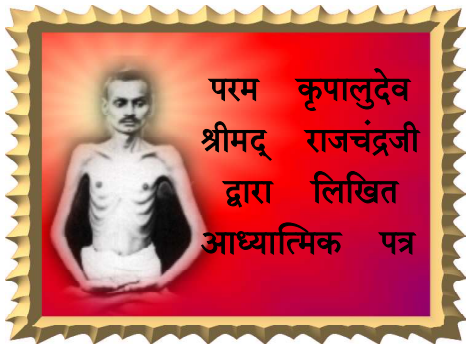

३१८

बंबई, पौष वदी १३, गुरु,१९४८

दूसरे काममें प्रवृत्ति करते हुए भी अन्यत्वभावनासे प्रवृत्ति करनेका अभ्यास रखना योग्य है। वैराग्य भावनासे भूषित 'शांतसुधारस' आदि ग्रंथ निरंतर चिंतन करने योग्य हैं। प्रमादमें वैराग्यकी तीव्रता, मुमुक्षुता मंद करने योग्य नहीं है; ऐसा निश्चय रखना योग्य है। श्री बोधस्वरुप।

***

३१९

बंबई, माघ सुदी ५, बुध,१९४८

अनंतकालसे स्वरुपका विस्मरण होनेसे जीवको अन्यभाव साधारण हो गया है। दीर्घकाल तक सत्संगमें रहकर बोधभूमिकाका सेवन होनेसे वह विस्मरण और अन्यभावकी साधारणता दूर होती हैं, अर्थात् अन्यभावसे उदासीनता प्राप्त होती हैं। यह काल विषम होनेसे स्वरुपमें तन्मयता रहना दुष्कर है; तथापि सत्संगका दीर्घकाल तक सेवन उस तन्मयताको देता है इसमें संदेह नहीं होता।

जीवन अल्प है और जंजाल अनंत है; धन सीमित है, और तृष्णा अनंत है; इस स्थितिमें स्वरुपस्मृतिका संभव नहीं है। परंतु जहाँ जंजाल अल्प है, और जीवन अप्रमत्त है, तथा तृष्णा अल्प है अथवा नहीं है, और सर्व सिद्धि है, वहाँ पूर्ण स्वरुपस्मृति होना संभव है। अमूल्य ऐसा ज्ञानजीवन प्रपंचसे आवृत्त होकर चला जाता है। उदय बलवान है।

***

३२१

बंबई, माघ वदी २, रवि,१९४८

अत्यंत उदास परिणाममें रहे हुए चैतन्यको ज्ञीनी प्रवृत्तिमें होनेपर भी वैसा ही रखते है; तो भी कहते हैं कि माया दुस्तर है, दुरंत है, क्षणभर भी, एक समय भी इसे आत्मामें स्थापन करना योग्य नहीं है। ऐसी तीव्र दशा आनेपर अत्यंत उदास परिणाम उत्पन्न होता है; और वैसे उदास परिणामकी जो प्रवृत्ति -(गार्हस्थ्य सहितकी)- वह अबंधपरिणामी कहने योग्य है। जो बोधस्वरुपमें स्थित है वह इस तरह कठिनतासे प्रवृत्ति कर सकता है क्योंकि उसकी विकटता परम है।

जनकराजाकी विदेहीरुपसे जो प्रवृत्ति थी वह अत्यंत उदासीन परिणामके कारण थी; प्रायः उन्हें वह सहजस्वरुपमें थी; तथापि किसी मायाके दुरन्त प्रसंगमें, समुद्रमें जैसे नाव थोड़ीसी डोला करती है वैसे उस परिणामकी चलायमानताका संभव होनेसे प्रत्येक मायाके प्रसंगमें जिसकी सर्वथा उदासीन अवस्था है ऐसे निजगुरु अष्टावक्रकी शरण अपनानेसे मायाको आसानीसे तरा जा सकता था; क्योंकि महात्माके आलंबनकी ऐसी ही प्रबलता है।

***